

## हिन्दी सिनेमा के सामाजिक सरोकार

(सत्तर के दशक (1970-1979) की स्त्री-केंद्रित हिंदी फिल्मों के विशेष संदर्भ में)

आशीष कुमार शोधार्थी, पीएच.डी.

प्रदर्शनकारी कला (फ़िल्म एवं रंगमंच), नाट्यकला एवं फ़िल्म अध्ययन विभाग, म. गां. अं. हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सिनेमा के समीक्षकों/आलोचकों के समक्ष एक अनसुलझा सवाल हमेशा मुंह बाए खड़ा रहता है कि सिनेमा कला है या व्यवसाय? ज्यादातर आलोचक सिनेमा को कला-रूप ही मानते हैं। उनका यह कहना है कि सिनेमा एक कला माध्यम है जिसमें समस्त अन्य कलाओं का समावेश होता है। अब यदि सिनेमा को कला माध्यम माना जाए तो अन्य कलाओं की तरह ही इसका (फिल्मों का) समाज के प्रति उत्तरदायित्व होना चाहिए। अर्थात् सिनेमा के सामाजिक सरोकार भी होंगे ऐसा कहा जा सकता है।

हम सभी जानते हैं कि किसी भी देश में बनने वाली फिल्में वहाँ के समाज और संस्कृति का प्रतिबिंब होती हैं। हिन्दी फिल्मों का संबंध भी अपने समय और भारतीय समाज से है। भारतीय समाज इन फिल्मों के प्रभाव से बच नहीं सकता क्योंकि हिन्दी फिल्में इसी समाज में रहने वाले दर्शकों के लिए बनाई जाती है, चाहे फिल्मकार का उद्देश्य विशुद्ध मनोरंजन/व्यवसाय अथवा विशुद्ध कलात्मक अभिव्यक्ति हो। आमतौर पर लोग सिनेमा को केवल मनोरंजन का माध्यम मानते हैं और 'सिनेमा के सामाजिक सरोकार' विषय पर बात करने से कतराते हैं। यह एक गलत परंपरा है क्योंकि इस मान्यता के विपरीत दृश्य/श्रव्य माध्यम होने के कारण सिने-कला, कला के अन्य रूपों के बनिस्पत मानव मस्तिष्क पर तुरंत तथा व्यापक असर डालती है। जिससे कि सिनेमा के सामाजिक उत्तरदायित्व के सबसे पुख्ता उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है।

उपर्युक्त संदर्भ में मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि हिन्दी सिनेमा में सबकुछ अच्छा-ही-अच्छा होता आया है। अर्थात् हिन्दी सिनेमा हमेशा सकारात्मक संदेश ही दर्शकों को संप्रेषित करता है। बल्कि यहाँ यह समझना ज्यादा जरूरी है कि हिन्दी सिनेमा ने यदि भाग्यवाद, सामंती आदर्शवाद, यथास्थितिवाद, प्रतिशोध पर आधारित बर्बरता, भोगवाद और विलासिता को प्रोत्साहित किया है तो दूसरी तरफ ऐसी फिल्मों का निर्माण भी लगातार जारी है जिनमें शांति, अहिंसा, शिक्षा, धार्मिक सदभाव, समुदायिक एकता, इंसानी भाईचारा, गरीबों उतपीड़ितों अथवा हशिए के लोगों के प्रति गहरी सहानुभूति का भाव हो।

उपरोक्त सारे विषयों पर एक शोध आलेख में बात करना दुष्कर कार्य है, अतः अपने इस शोध

आलेख में मैं हिंदी सिनेमा के निर्देशकों द्वारा एक खास सामाजिक सरोकार के अंतर्गत बनाई गई स्त्री-केंद्रित फिल्मों की चर्चा करूंगा जो सत्तर के दशक (1970-1979) के हिंदी फिल्मों पर आधारित होगा।

1972 ई.में मृणालसेन द्वारा निर्देशित 'मायादर्पण' एक असाधारण समझ वाली फिल्म है। जहाँ कंटेंट तथा फार्म को अलग-अलग देखना असंगत होगा। यद्यपि इस फिल्म का केंद्रीय-चरित्र एक स्त्री है और उसी के मुख्य-विषय के रूप में फिल्म के माध्यम से दिखाया गया है। इस फिल्म में स्त्री की दुनियाँ सीधे आख्यानात्मक विवरण के द्वारा नहीं दिखाया गया है बल्कि यह दर्शकों को उच्च क्वालीटी के सेनसेनसे से आच्छादित कर देती है, जो कि हिंदी-सिनेमा के इतिहास में दुर्लभ है। यह फिल्म अपने थीम तथा ट्रीटमेंट में बिलकुल वास्तविक लगती है।

कला फिल्मों में ही वास्तव में स्त्री की दुनियाँ को नारीवादी परिप्रेक्ष्य से दिखाने की कोशिश की गई है। इन फिल्मों में तो स्त्रियों को अपना अधिकार नहीं मिलने पर लड़ते हुए/संघर्ष करते हुए अधिकार छिनने तक को दिखाया गया है। इन फिल्मों में एक बात गौर करने लायक है कि कला फिल्मों में शहरी स्त्रियों को तो अपने परिवार से संघर्ष करते अथवा वैवाहिक जीवन में होने वाले शोषण से विरोध करते दिखाया गया किंतु ग्रामीण स्त्रियों को उन्हीं अत्याचारों को झेलते हुए ही दिखाया गया है। श्याम बेनेगल द्वारा निर्देशित इस दौर की सभी फिल्मों में मुख्य पात्र महिलाएँ ही रही हैं जिनका शोषण उनका परिवार, समाज या पितृ-सत्तात्मक समाज करता है। इस तरह की फिल्मों में स्त्रियों को दबाने तथा उनके अधिकारों से उन्हें वंचित रखने में महती भूमिका अदा खुद उसका जीवनसाथी करता है।

सन् 1974 में आई 'अंकुर' में शबाना आजमी को लक्ष्मी के रूप में सहज तथा कामुक दिखाने की कोशिश की गई है। मुख्यधारा के हिंदी-सिनेमा की उस समय की स्त्री छवि 'ग्लैमर-डॉल' से इन फिल्मों की स्त्रियों को अलग तरीके से चित्रित किया गया है। पूरी फिल्म में मुख्य चरित्र लक्ष्मी के कई कभी न भूलने वाले छवि से दर्शक रू-ब-रू होता है। लक्ष्मी अपने मालिक को पूरी गरिमा के साथ उसके साथ वापस जाने से मना करती है। उसका मालिक सूर्या (अनंत नाग) जब उसे वापस चलने के लिए प्रार्थना कर रहा होता है और अपने कृत्य के लिए माफी माँग रहा होता है तो लक्ष्मी के चेहरे पर विजय भावना के निशान स्पष्ट देखने को मिलता है। अपने मालिक के विनम्र निवेदन को लक्ष्मी बहुत प्रतिक्रियावादी तरीके से नहीं लेती। उसे जब पता चलता है कि वह गर्भवती है तो वह चीखती-चिल्लाती नहीं है। बल्कि अपने गर्भ को स्वीकार कर वह बहुत शांत तरीके से काम पर जाती है। वह जमींदार (अनंत नाग) के कहने के बावजूद भी जब गर्भपात नहीं करवाती है तब इसका बदला उसके गूंगे-बहरे पति से लेने की कोशिश की जाती है। जब लक्ष्मी का पति अनाज चोरी के मामले में पकड़ा जाता है तब लक्ष्मी का मालिक/जमींदार/शोषक/सूर्या उस बेचारे (गूंगे-बहरे) के चेहरे को कालिख से पोतकर, गधे पर बैठाकर पूरे गाँव में घुमाता है। सूर्या के इस अत्याचार से लक्ष्मी बहुत आहत होती है और वह जमींदार को बहुत कोसती है। इस दृश्य में सूर्या (जमींदार) दरवाजा बंद कर बेचैनी से उसे सुन रहा होता है। इस दृश्य में जमींदार युवक के प्रति निर्देशक की थोड़ी सहानुभूति का बोध होता है। उसे जिस रूप में दिखाया गया है यानि उस समय कैमरा से जो क्लोज-अप अंकित होता है उससे जमींदार युवक में परिवर्तन जैसी अनुभूति होती है।

लक्ष्मी द्वारा अपने शराबी तथा गूंगे-बहरे पति के लिए हुए अचानक झुकाव को हम स्त्रियों के स्टीरियोटाइप चित्रण में ही रख कर देख सकते हैं। ऐसा इसलिए क्योंकि हमारा समाज इस बात को बहुत आदर्शकृत करता है कि चाहे पति जैसा भी हो वह पति है, भगवान के बराबर है और स्त्रियों को हमेशा इसका ख्याल रखना चाहिए। लेकिन जब जर्मीदार सूर्या (अनंत नाग) को यह लगता है कि लक्ष्मी के गर्भवती होने का कारण वह खुद है यह गाँव वाले को पता चल जाएगा और उसकी बदनामी होगी तो वह लक्ष्मी को अपने यहाँ से जाने को कहता है। वह लक्ष्मी से कहता है 'तुम्हें अपने इस कृत्य पर अर्थात् गर्भवती होने की घटना पर शर्म नहीं आती' तो लक्ष्मी का जवाब होता है- (वह कठोरता से प्रत्युत्तर में कहती है)- क्या तुम्हें शर्म नहीं आती? फिल्म के अंत से कुछ क्षण पहले एक स्त्री द्वारा एक पुरुष जो उसके गर्भ में पल रहे बच्चे का बाप है को धिक्कारना दिखाया जाना पूरी फिल्म में स्त्री की दुनियाँ के चित्रण को सार्थक बनाता नजर आता है और फिल्म का यह दृश्य दर्शक के मानस पटल पर अंकित हो जाता है सदा के लिए।

सन् 1977 ई.में आई 'भूमिका' जिसका निर्देशन श्याम बेनेगल ने किया था। 80 के दशक में भारतीय उत्तर-औपनिवेशिक इतिहास-लेखन ने पारंपरिक पुरुष-वर्चस्व से आक्रांत इतिहास-लेखन के कई बंद दरवाजों को खोला तथा इतिहास-अध्ययन में स्त्रीवादी-चिंतन को स्थान मिला। यह फिल्म इस दौर के यथार्थवादी सामाजिक-दृष्टि और इसी बौद्धिक उभार का एक कलात्मक प्रतिफल है। भारतीय समाज में स्त्री-संबंधी दृष्टिकोण में समय के साथ गुणात्मक परिवर्तन आए और कहना न होगा कि इसमें बेनेगल के 'भूमिका' का महत्व क्या है।

प्रसिद्ध फिल्म-अभिनेत्री (मराठी) हंसा वाडेकर की आत्मकथा 'सांगत्ये आएका' पर आधारित है 'भूमिका' जिसकी पटकथा स्वयं श्याम बेनेगल ने गिरीश कर्नाड और पंडित सत्यदेव दुबे के साथ मिलकर लिखी है। "सांगत्ये आएका" संभवतः भारतीय साहित्य की परंपरा में किसी भी स्त्री के द्वारा लिखी गई ऐसी पहली आत्मकथा है जिसमें घरेलू-हिंसा से लेकर, बालशोषण और पुरुषों के द्वारा किए गए यौन-शोषण का इतना बेबाक बयान किया गया है। एक स्त्री होने के नाते बचपन से लेकर जवानी तक हंसा ने अपने को वस्तु हो जाने की नियति को रेशा-रेशा उधेड़कर देखा है। हंसा की यह आत्मकथा हिंदुस्तानी समाज की आम स्त्रियों की पीड़ा का दस्तावेज है, जिसमें घर से लेकर बाहर तक पति, मित्र, प्रेमी सबने एक वस्तु के रूप में उसका उपयोग किया। श्याम बेनेगल ने एक काल्पनिक पात्र उषा (स्मिता पाटिल) के बहाने हंसा की अनदेखी जीवन-कला को सांस्कृतिक-समीक्षा के रूप में प्रस्तुत कर आम भारतीय-नारी की पीड़ा का महाकाव्य रचा है।

भूमिका में अमोल पालेकर ने उषा के पति का किरदार निभाया है। वह स्वयं जुआरी, शराबी, ऐशपसंद और पत्नी की कमाई पर मौज करने वाला इंसान है और पुरुषवादी-मानसिकता के कारण इस हीनग्रंथी का शिकार भी है कि पत्नी की कमाई पर पल रहा है। अपनी इसी हीनताभाव के कारण वह उषा के चरित्र पर आक्षेप लगाता रहता है। ऐसा करने का एक महत्वपूर्ण कारण उषा पर मनोवैज्ञानिक दबाव बनाना होता होगा। ऐसा फिल्म से ध्वनित नहीं होता बल्कि व्यंजित होता है। ऐसे में ही उषा के अलग बैंक अकाउंट खोलने का राज उसके पति पर जाहिर होता है। उषा का उद्देश्य ऐसा करके अपनी बेटी के भविष्य को सुरक्षित करने

का है, पर केशव (उसका पति) उषा के मंतव्य को समझता नहीं या कि समझना नहीं चाहता। वह भयाक्रांत है कि उषा इस तरह से उसकी निर्भरता से बाहर हो जाएगी। भारतीय स्त्री की यह विडंबना रही है कि उसकी अपनी कमाई पर भी उसका पति, पिता या भाई अपना मौलिक अधिकार समझता है। फ्रांस में स्त्रीवादी आंदोलन की सूत्रधार सिमोन द बोउआर ने अपनी पुस्तक 'द सेकेण्ड सेक्स' में विस्तार से इस बात का विश्लेषण प्रस्तुत किया है कि एक स्त्री की आजादी का रास्ता उसकी आर्थिक आजादी से प्रशस्त होता है। पर स्त्री की आजाद-खयाल पुरुष वर्चस्व को चुनौती देकर ही संभव है, क्योंकि स्त्री-पुरुष के संबंधों में सामंती मूल्यबोध के आरोपन से पुरुषों ने कृत्रिम रूप से एक शक्ति-संघर्ष की स्थापना कर रखी है और अपने वर्चस्व को वह कुशलता से एक संस्थागत रूप दे रखा है। श्याम बेनेगल ने 'भूमिका' के माध्यम से न केवल स्त्री-अस्मिता के सवाल पर बहस किया बल्कि इस स्टीरियोटाइपिंग को भी तोड़ा कि एक स्त्री को जीने के लिए एक पुरुष की अनिवार्य आवश्यकता होती है। हम 'भूमिका' में देखते हैं की उषा न केवल पति के शोषण का शिकार होती है, बल्कि मित्र, प्रेमी, सबने उसके स्त्री होने का फायदा उठाया है। विश्वसनीय साथी की तलाश से निराश होकर उषा अकेले रहने का निर्णय लेती है। यही इस फिल्म का चरमोत्कर्ष (Climax) तथा संदेश है।

श्याम बेनेगल द्वारा निर्देशित 'निशांत' (1975 ई।) में विश्वम और उसके भाई एक प्राथमिक पाठशाला के मास्टर (गिरीश कर्नाड) की पत्नी (शबाना आजमी) का अपहरण कर लेते हैं। अपनी हवस के लिए सुशीला का शारीरिक-शोषण करना उनका एकमात्र उद्देश्य होता है। मास्टर द्वारा जमींदार से अपनी पत्नी को वापस करने की प्रार्थना विफल होती है। हताश और मजबूर मास्टर पंचायत, पुलिस स्टेशन, जिले के कलेक्टर आदि से गुहार लगाता है पर कहीं से किसी प्रकार की सहायता नहीं मिलती। अखबार का संपादक तक इस दुर्दांत घटना पर हैरतजदा होने के बजाए मास्टर को अखबार के नाम एक खत लिखने की सलाह देता है जबकि मास्टर इसे खत के रूप में नहीं खबर के रूप में छपवाना चाहता है। अखबार का संपादक मजबूरी का बहाना बनाता है और कहता है- 'भैया', अगर यह खबर छाप दें तो शायद छापाखाना बेचना पड़ेगा। इज्जत का दावा कर दिया उन लोगों ने, तो हर्जाना भरते-भरते दिवाला पिट जाएगा, हताश मास्टर मंदिर के पुजारी की सहायता से गाँव के लोगों को एकत्र करता है और उनके समक्ष अपनी पत्नी के अपहरण को विराट सामाजिक घटना के रूप में प्रस्तुत करता है। सदियों से भयभीत समाज अचानक इस घटना के प्रति विद्रोही नहीं हो पाता है। लेकिन पुजारी तथा मास्टर अपना प्रयास जारी रखते हैं। सदियों से चली आ रही शोषण की यह परंपरा सुशीला के रूप में मूर्त हो उठती है और देवी पूजन के दिन संगठित किसानों और मजदूरों का समूह नियोजित रूप से ठाकुर की हवेली पर हमला बोल देते हैं। वर्षों से दबा हुआ जनता का आक्रोश बेहद हिंसक हो जाता है। जमींदार अपने सभी भाइयों सहित मारा जाता है। इस हिंसा में जमींदार विश्वास की पत्नी रूक्मिणी (स्मिता पाटिल) और सुशीला भी मारी जाती है जबकि ये महिलाएँ स्वयं भी एक स्त्री के रूप में उन जमींदारों के थोथे मूल्यों और झूठी शानो-शौकत का ग्रास बनी हुई है। साथ ही साथ अपने अस्तित्वबोध के संकट से भी परेशान होती है। रूक्मिणी और सुशीला का इस फिल्म के अंत में हिंसा का शिकार हो जाना कष्टप्रद अवश्य है, पर वह जिस आक्रोश का शिकार होती है उसमें तार्किक होने की अपेक्षा नहीं की जा सकती है। रूक्मिणी की मौत से उपजे उहापोह को पंडित ने अपने सात्विक अभिनय से सवाक कर दिया है। अचानक उठ खड़े हुए इस तूफान ने अमानवीय और

शोषण पर आधारित तथा अंधेरे की हिमायती इस व्यवस्था का अंत कर अंध युग से बाहर आने की घोषणा कर दी। 'निशांत' स्त्रियों के लिए भी अंधेरे की अंत की घोषणा है।

जिन फिल्मों की चर्चा यहाँ की गई उसके निर्माण की पृष्ठभूमि पर बात करना यहाँ आवश्यक है। जनवरी, 1968 में मृणाल सेन और अरुण कॉल ने एक घोषणा- पत्र तैयार किया था जिसमें हिंदी फिल्मों पर व्यावसायिकता का एकाधिकार, फ़िल्म निर्माण की फार्मुलाबद्धता, कलात्मक सौंदर्य दृष्टि का अभाव, दर्शकों के बौद्धिक और मानसिक विकास के बदले निम्नस्तरीय, कुत्सित और कुरुचिपूर्ण फ़िल्म- दृश्यों के प्रति नशीला आकर्षण उत्पन्न करने का फ़िल्म निर्माता का प्रयत्न, वितरण और प्रदर्शन के क्षेत्र में अच्छी फिल्मों को प्रवेश न करने देने के षड्यंत्र, सामाजिक और मानवीय समस्याओं की उपेक्षा, थोड़े मनोरंजन द्वारा मात्र धन कमाने की लिप्सा आदि की चर्चा करते हुए विकल्प के रूप में नए सिनेमा की आवश्यकता, उपयोगिता और उसके उद्देश्यों पर प्रकाश डाला गया था। इस घोषणा-पत्र में नया सिनेमा की कोई संतोषप्रद परिभाषा नहीं गढ़ी गई थी, जो कि तब संभव भी नहीं था, क्योंकि परिभाषाएं या आलोचना सर्जना पश्चात ही संभव हो पाती हैं। लेकिन यह स्पष्ट रूप से लिखा गया था कि

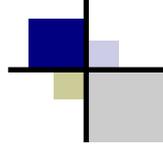
“ व्यावसायिक सिनेमा की कुत्सित रुचि के विरुद्ध नया सिनेमा एक बेहतर सिनेमा के लिए अनवरत और चेतनायुक्त आन्दोलन है। अनेक देशों में इस प्रकार के आन्दोलन सामने आए हैं। हमारा विश्वास है कि इस आन्दोलन को पनपने के लिए सही जलवायु यहाँ मौजूद है।“

इस तरह से सत्तर के दशक की शुरुआत से ही हिंदी फिल्मों का दो धाराओं में विभाजन हो गया। एक धारा बड़ी-बड़ी बजट की, आम लोगों के रंग-बिरंगे सपनों को संजोए नाच- गाना, प्रेम कहानियों और मार पीट से भरपूर, दर्शकों के लिए उनका पूरा पैसा वसूल के सिद्धांत पर फ़िल्में बनाने लगी तो ठीक इसके सामानांतर दूसरी धारा/ नई धारा ने कम बजट की फिल्मों का निर्माण किया जिसमें आम लोगों के जीवन पर देश की विकराल राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओं से प्रभावित और यथार्थवादी कथाओं पर आधारित सार्थक कला फिल्मों का निर्माण शामिल था।

इस आलेख में जिन फिल्मों की चर्चा की गई है वे इसी नयी धारा के अंतर्गत बनाई गई थी जो समाज के प्रति विशेष सरोकार के तहत बनाई गई और अपने समय काल में उस उद्देश्य में सफल भी रही। विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि 70 के दशक का हिंदी सिनेमा स्त्री की दुनिया को बेबाकी से दिखा रहा था। स्त्री –जीवन के मुद्दों एवं समस्याओं को लेकर हिंदी सिनेमा ईमानदार भूमिका निभा रहा था। साथ ही साथ उस समय की फ़िल्में समाज के यथार्थ को भी दर्शक के सामने लाने का प्रयास कर रही थी।

**संदर्भ- ग्रंथ:**

- i. ओझा अनुपम, *भारतीय सिने सिद्धांत*, राधाकृष्ण, नई दिल्ली, 2009.
- ii. सिन्हा प्रसून, *भारतीय सिनेमा: एक अनंत यात्रा*, श्री नटराज प्रकाशन, दिल्ली, 2006.
- iii. कुमार कौशल, 'श्याम बेनेगल कला की जीवनधर्मिता का हिमायती', समसामयिक सृजन, अक्टूबर-मार्च, 2012-13 (संयुक्तांक).
- iv. पारख जवरीमल; *लोकप्रिय सिनेमा और सामाजिक यथार्थ*, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2001.
- v. अग्रवाल प्रहलाद (संपादक); *हिंदी-सिनेमा बीसवीं से इक्कीसवीं सदी तक*, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, 2009.
- vi. परवीन फरहत (सं.), *सामाजिक मूल्यों से स्त्री का अंतर्द्वंद्व*, आजकल, मार्च, 2014, दिल्ली
- vii. पारख जवरीमल ; *हिन्दी सिनेमा का समाज शास्त्र*, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली 2006
- viii. Somaaya Bhawana, Kothari Jigna, Madangarli Supriya; *Mother Maiden Mistress: Women in Hindi Cinema, 1950-2010*, Harper Collins, India, Delhi.

**Contributor's Details :**

**आशीष कुमार** शोधार्थी, पीएच.डी.  
 प्रदर्शनकारी कला (फ़िल्म एवं रंगमंच),  
 नाट्यकला एवं फ़िल्म अध्ययन विभाग  
 म. गां. अं. हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा  
 महाराष्ट्र- 442001  
 मो.- 9579667774  
 ई.मेल- ashishkumarphd@yahoo.com